परिग्रह का स्वरूप

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

परिग्रह का यदि निरुक्त किया जाय तो "परि-समन्तात् गृह्यते=बध्यते प्राणी अनेन इति परिग्रह; "जिसके द्वारा प्राणी चारों ओर से पकड़ा जाता है, जकड़न में आता है, निगृहीत होता है उसे परिग्रह कहा जाता है।" व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य वस्तुओं को आप लोग परिग्रह मानते हैं। उन्हें त्यागनेवाला अपरिग्रही की कोटि में आ जाता है, परन्तु भगवान महावीर की पैनी दृष्टि बहुत गहराई तक पहुँचती है, मूल को पकड़ती है और कारणों को लक्षित करके नव्य दिशा देती है। वे परिग्रह को तीन भागों में विभक्त करते हैं:—

1– कर्म परिग्रह, 2–शरीर परिग्रह और 3–बाह्यमण्डोपकरण परिग्रह।

कर्म परिग्रह से ज्ञानावरणीयादि जो पाप पुण्य के कारण हैं उनको ग्रहण किया गया है। संसार में आत्मा को बांधनेवाले वास्तव में पुण्य-पाप ही हैं। क्योंकि पुण्य-पाप का समूल नाश ही तो मोक्ष है। यद्यपि पुण्य सोने की साँकल है और पाप लोहे की, पर है तो साँकल ही। चलते समय दोनों ही अवरोध पैदा करती हैं। पिंजड़ा चाहे सोने का हो या लोहे का, पक्षी को उड़ने न देने में तो दोनों समान ही हैं। जब तक पुण्य-पाप का अस्तित्व रहेगा तब तक भव-बंधन से आत्मा छूट नहीं सकती और बार-बार नव-नव शरीर को धारण करती रहेगी। इस पहले कारण का कार्य ही दूसरा 'शरीर परिग्रह" है जो ममत्व का भीषण हेतु और देहाध्यास का प्रबल साधन है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि—'मूल संसार वृक्षस्य देह एकात्मधीस्ततः "संसार वृक्ष का मूल देहाध्यास ही है। यथार्थ में देखा जाय तो सारा संसार देह का ही फैलाव है। सर्वप्रथम बच्चे के माता-पिता देह के सम्बन्ध से ही बनते हैं। छोटे-बड़े, भाई-बहन भी इसी के कारण कहलाते हैं। पश्चात् संयोग में स्त्री भी देह से ही सम्बन्धित है। फिर पुत्र-पुत्रियाँ, पोते-परपोते भी इसी का विस्तार हैं। शरीर के सुख में, सुख और शरीर के दुःख में, दुःख प्रति समय अज्ञानी मानता रहता है। शरीर को खिलाने-पिलाने, नहलाने-धुलाने में कितना समय व्यतीत होता है। इस शरीर की परि-तृप्ति के लिये ही फिर तीसरा मण्डोपकरण परिग्रह का व्याख्यान हुआ है। इसकी सुख-सुविधा के लिये ही धन-धान्यादिक की चाह है, उद्यान क्षेत्र गृहादिक की अपेक्षा है। इसकी सुरक्षा के लिये ही सर्दी-गर्मी के नये-नये परिधानों की लिप्सा है। इसे सजाने के लिये ही तो रत्नादि आभूषणों का आकर्षण है। इसलिये इन बाह्य वस्तुओं को परिग्रह की संज्ञा मिली है। यह बाह्य परिग्रह फिर

मुनि श्री कन्हैयालाल जी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नव-भेदों में विभक्त किया गया है। जैसे क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, और कुंभी धातु नववाँ परिग्रह है जो बाह्य मंड-कुण्ड, माचे-ढोलिये, आदि विविध प्रकार से गृह सामान से संबद्ध है। इस प्रकार यह एक परिग्रह की श्रृंखला बन जाती है। इन सभी का यदि संग्रहीत रूप एक ही शब्द में कहा जाय तो दशवैकालिक सूत्र का वह पद बहुत महत्व-पूर्ण है। जैसे "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"। इसी का अनूदित रूप वाचक मुख्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "मूर्च्छा परिग्रहः"। यह बहुत तात्विक एवं गम्भीर व्याख्या है। वस्तुतः वस्तु परिग्रह नहीं, मूर्च्छा ही परिग्रह है। *वस्तु तो अपने स्वरूप में उपस्थित है, वह परिग्रह और अपरिग्रह क्या ? उससे सम्बद्ध हमारी* आसक्ति ममता ही परिग्रह है।

एक व्यक्ति ने पशुओं के मेले में से गौ खरीदी। उसके मुँह पर बँधे हुए रस्से को अपने हाथ में लपेट कर वह गौ को खींचता हुआ ले जा रहा था। एक महात्मा मार्ग में मिले। उन्होंने उस व्यक्ति से सवाल किया-"तू गौ से बँधा हुआ है या गौ तेरे से बँधी हुई है।"

उस व्यक्ति ने कहा-"यह तो स्पष्ट ही है कि गौ मेरे से बँधी है।"

महात्मा ने कहा-"नहीं, तू गौ से बँधा है।" व्यक्ति ने कहा-"कैसे ?"

महात्मा ने कहा-"यदि रस्सा तुड़ाकर गौ दौड़ जाए तो तू गौ के पीछे दौड़ेगा या गौ तेरे पीछे ?"

प्रत्युत्तर में उसने कहा-"महाराज ! मैं गौ के पीछे दौड़ूँगा। क्योंकि गौ मेरी है न।"

स्मित मुद्रा में महात्मा ने कहा-"फिर तू कैसे कहता है कि गौ तेरे से बँधी है ? वास्तव में तू ही गौ से बँधा हुआ है"। वस्तु परिग्रह नहीं, हम वस्तु से ममत्व के कारण परिगृहीत हैं।

वैसे मूर्च्छा बेहोशी को भी कहते हैं। यथार्थतः अज्ञानी मूर्च्छित ही है, बेहोश ही है जो पर द्रव्य को स्व द्रव्य मानता है। उनके लाभ-अलाभ में सुख-दुःख का अनुभव करता है। मूर्च्छा ही ज्ञानावरणीयादि धन घातिक कर्मों का उपादान बनती है, अतः उपर्युक्त कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह एवं मण्डोपकरण परिग्रह मूर्च्छा का ही विस्तार है। इसलिये मूर्च्छा का त्याग ही सर्वोत्कृष्ट है। बाह्य पदार्थों का त्याग चाहे कितना ही करो, पर शरीर को तो आयुष्यावधि नहीं त्याग सकते। शरीर का त्याग हो भी जाय फिर भी तैजस् कार्मणयुक्त शरीर तो सहगामी बने ही रहते हैं। इसी विषय को *स्पष्ट करते हुए विद्वद्वर श्री मोहन विजय लिखते हैं—*

"बाहर क्रिया कलाप थी निर्मल न भयो कोय।"
जिमि विष धर कंचुली तजे, निज निर्विष नहीं होय।

कंचुली के त्याग से साँप निर्विष थोड़े ही बन जाता है। कंचुली तो ऊपर की आवरण है विष तो उसकी दाढ़ में विद्यमान है। वैसे ही बाह्य त्याग से आंतरिक शुद्धि कैसे हो सकती है ! इस भाव को लेकर सन्त कबीर की साखी करारी चोट करती है—

बांबी कूटे बाँपड़ा, साँप न मरयो जाय।
बांबी तो खावै नहीं, साँप जगत को खाय॥

अज्ञानी बेचारे साँप की बांबी को रोष करके पीटते है। पर साँप को मार नहीं सकते। अरे ! बांबी किसी को डसती नहीं, डंसने वाला तो सांप है। फिर बांबी पर रोष करने से क्या लाभ ?

आज वैज्ञानिक युग है। प्रत्येक व्यक्ति चिन्तनशील है। भगवान महावीर ने निश्चय और व्यवहार, ज्ञान और क्रिया, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। अतः मूर्च्छात्याग के द्वारा ही सही रूप से अपरिग्रहवृत्ति अपनाना आज की समस्या का हल है।

⊙

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org